अँधेरी सुरंग में टेढ़-मेढ़े अक्षर

अल्पना मिश्र

हिन्दी ADDA

अँधेरी सुरंग में टेढ़-मेढ़े अक्षर

वे परेशान हैं। तमाम दुनियावी ताम-झाम अचानक उनके ऊपर आ पड़ा है, जिसे मुस्तैदी से अब निपटाना ही है। वे यानी ठाकुर जगन्नाथ प्रसाद। ठाकुर जगन्नाथ प्रसाद माने घर के मुखिया। यहाँ-वहाँ दौड़ रहे हैं वे। सुबह की ठंडी हवा के बावजूद उनका माथा पसीने से भीग गया है। कल रात अचानक कितनी तो धूपबत्ती मँगानी पड़ी। घर में कुछ खोजो तो समय पर मिलता नहीं। माचिस जाने कहाँ रखा गई? गेंदे के फूलों की बड़ी-बड़ी मालाएँ लेकर कहाँ तो अटके रह गए हैं अँजोरे? लड़के ने अब तक अहाते में पूरी कुर्सियाँ नहीं लगवाईं? सबके आ जाने के बाद लगेंगी क्या? उधर आँगन में चहल-पहल बढ़ती जा रही है। इतनी आपा-धापी के बीच उन्होंने पिछवाड़े वाले अहाते के कोने से ही आँगन की तरफ नजर डाली।

आँगन में कल की रखी देह सफेद शाल से पूरी ढकी है। वे दरवाजे को जिस एंगल से देख रहे हैं, उससे देह के ढके हुए पैरों के अलावा कुछ नहीं दिखता।

'अब अकड़ने लगी होगी।' वे सोचते हैं।

देर भी तो कितनी हो चुकी है। वह तो मौसम की कृपा है। तेज गर्मी होती तो इतनी देर में जाने क्या हुआ होता! यही सब सोचते हुए उनका हाथ फिर कुर्ते की जेब में चला जाता है। हाथ जेब में जाता है तो उँगलियों में कागज का वह अदना-सा टुकड़ा चुभता है, जिसे जेब से निकालकर वे फिर हाथ में ले लेते हैं। इस टुकड़े के बारे में उनके अलावा उनका एक भतीजा है, जो जानता है। जानता ही है शायद, यह वे पूरे भरोसे से नहीं कह सकते। 'पढ़ लिया होगा शायद' वाले भाव में ही घबड़ा जाते हैं।

किसी की आँख पर उनका वश नहीं है।

'एक बाबा, देखिए क्या है?' यह कहकर बीती रात उसी भतीजे ने इसका अन्वेषण किया था। आँगन में पड़ी देह तब कमरे में बिस्तर पर थी। उसे बिस्तर से उतारकर आँगन में चटाई पर रखा गया था। इसी बीच किसी ने कहा कि चटाई पर उन्हीं का गद्दा डाल देना ठीक होगा। कुछ ही देर में लोग आने शुरू हो जाएँगे। तब देह को निकहरी चटाई पर देखकर कैसा लगेगा? और फिर झट से भतीजा दौड़ा था गद्दा लाने। गद्दा उठाते ही उसमें से कोई लाल-काला डिजाइनवाला कपड़ा लटक गया था।

'ऐ, इ क्या है?' के अंदाज में उसने गद्दे में से पहले कपड़ा खींचा। कपड़ा बाहर निकलते ही लेडीज गाउन की शक्ल में बदल गया, जिसके गले और बाँहों पर लाल रंग का लेस लगा था। उसी के साथ एक-दूसरे कपड़े की नीली मुंडी दिखी। भतीजे ने थोड़ी जिज्ञासा और थोड़े मजे में उसे भी खींचा। यह नीला, चमकीला कपड़ा एक-दूसरे

जोड़ीदार के साथ निकला। निकलते ही इसने कढ़ाईदार पंजाबी तरीके के सलवार-कुर्ते का रूप धर लिया। फिर क्या था? भतीजे ने झटके से तकिए के साथ पूरी चादर खींच दी। तकिए से उसी समय अलग होकर कुछ नीचे गिरा। पर भतीजे का ध्यान पहले चादर के नीचे नीले जालीदार दुपट्टे पर पड़ा।

'ऐ बाबा, देखिए क्या है?' के अंदाज में वह चिल्लाया। इसी के साथ कई लोग अंदर घुसे। कुछ यह देखने आए कि गद्दा लाने में इतनी देर क्यों लग रही है? तो कुछ केवल चीख के उड़ने से दौड़े आए। इसी बीच भतीजे का ध्यान उस कागज के टुकड़े पर पड़ा। जो कुछ देर पहले ही तकिए से अलग होकर नीचे गिरा था। उसने बस यों ही उठाया और फेंकने के पहले खोल दिया था।

ठाकुर साहब भी दौड़े थे कि साले से गद्दवे नहीं उठ रहा है। और कुछ इस तरह वहाँ आकर रुके थे कि उनका यह आना बिल्कुल अलग तरह का आना न हो, कि जैसे कुछ गिरे तो उसकी ध्वनि से आदमी चौंकता ही है। कोई चीखे तो आदमी पूछता ही है -'क्या हुआ?' बस उसी तरह उन्होंने पूछा - 'का भया अँजोरे?'

भतीजे ने कागज को मोड़कर उनकी तरफ फेंकने की तरह फेंका और उन्होंने लपक लिया।

हालाँकि ठाकुर साहब देह के इस प्रयाण के लिए महीनों से मन ही मन अपने को तैयार किए हुए थे, पर फिर भी क्या पता था कि बस अभी चल पडेंगी वे। आँखों में पानी भरने लगा। वे क्या कम परेशान हैं...।

लेकिन कमबख्त यह कागज!

ठाकुर साहब ने एक नजर जैसे ही उस पर डाली, वे अजीब-सी असमंजस की स्थिति में आ गए। उन्होंने झट से कागज जेब में डाला। 'बाद में ठीक से पढ़ेंगे, कि यहाँ बहुतेरे लोग इकट्ठा हैं, किसी की जर पड़ गई तो...' यही सब सोचकर वे तेजी से बाहर आ गए। बाहर आकर एक कोने की तरफ लगभग छिपते हुए उन्होंने कागज निकाला, जिस पर टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में शब्द टँके थे। नीचे एक नाम था - 'राजरानी'। उसी तरह टेढ़ा-मेढ़ा।

कौन? राजरानी!

वे तो भूल भी चुके थे।

'नारायण की माँ' कहते-कहते उन्हें याद तक नहीं रहा कि 'नारायण की माँ' का एक नाम भी है और वे कागज के इस टुकड़े पर अपने को 'नारायण की माँ' न लिखकर 'राजरानी' लिख सकती हैं। और उससे भी ज्यादा वे इस बात से हैरान हैं कि वे लिख भी सकती थीं? भला यह लिख सकने की इच्छा-शक्ति और हिम्मत उनमें कहाँ दबी बची रह गई थी?

हुआ यूँ कि उनसे यानी राजरानी जी से मेरी मुलाकात अचानक और बिल्कुल अनायास ही हो गई। तब, जब हम उनके भवन के ठीक तीन घर छोड़कर बने अपने छोटे से नए मकान में आए थे। तब, पढ़ने के लिए मेरा दाखिला इस कस्बे से दूर शहर के विश्वविद्यालय में कराया जा चुका था। उस शहर में, जिसके बारे में बचपन से ही चमकदार और भूलभुलैयावाली अँधेरी सुरंग जैसी कहानियाँ सुनी थीं। जिसमें अब जब पहुँची थी तो लगा था कि या तो चमकदार चीजें हमसे बहुत दूर हैं, या हैं और हम उन्हें बिलकुल पकड़ नहीं सकते। और फिर भूलभुलैयावाली अँधेरी सुरंग से लौट कर कोई सही-सही कुछ नहीं बताता, या लोग शायद लौटते ही नहीं?

यह अँधेरी सुरंग किन-किन रास्तों से होकर जा सकती है, यह हमें तरह-तरह से समझाया गया था। जैसे कि उधर-उधर से मत जाना, वैसा-वैसा न करना। तो उस अँधेरी सुरंग के बारे में, जिसके भीतर हम चल सकते थे, चलते ही थे, पर जिसे हम अपने हिस्से के रास्ते से देख नहीं पाते थे, मैं कुछ भी ठीक से बयान नहीं कर सकती। मैं भी यहाँ बिलकुल उन्हीं लोगों की तरह हूँ, जो इन रास्तों पर चलकर, भटककर, कभी-कभी लौटकर भी ठीक-ठीक कुछ नहीं बता पाते। बता देते तो जानने-बूझने की तमाम झंझट ही खत्म।

तो जब उस शहर से लौट-लौट कर मैं यहाँ आती, तब उन कुछ दिनों के लिए भी मोहल्ले के लोगों से मेरा कोई खास मतलब न रहता। कोई परिचित दिख गया या किसी से परिचय करा दिया गया तो 'नमस्ते' कर दिया, बस काम खत्म। इस तरह मेरा आमना-सामना यदा-कदा राजरानी जी के बेटे-बहू से भी हुआ और कभी किसी को उस बड़े भवन के बरामदे में बैठे या टहलते देखा, जो ठाकुर साहब के नाम से मेरी स्मृति में आते हैं। पर राजरानी जी से मिलना? वे न जाने उस बड़े से मकान में कहाँ थीं? होता यह भी था कि जब मैं घर आती, छोटे भाई-बहन मुझे घेरे रहते। मेरी अपनी दुनिया। किस्से-कहानियाँ, कुछ शहर के, कुछ विश्वविद्यालय के, कुछ अँग्रेज-अँग्रेजिनों के... कुछ झूठे, कुछ सच्चे।

असल में जब मैं कोई घटना भाई-बहनों को सुनाती और वह ठीक से प्रभाव जमाने लायक या मजेदार नहीं बन पा रही होती, तब उसमें अपनी मर्जी से कुछ घटा-बढ़ा लेती। अपने ही एक साथी वीरेंद्र कुमार उर्फ वी के उर्फ टैगोर की मैं ऐसी-ऐसी कहानियाँ बनाती कि कई बार भाई-बहनों के साथ मम्मी-पापा का भी हँस-हँसकर बुरा हाल हो जाता और कई बार सब उसकी बेवकूफी पर तरस खाने लगते।

एक बार उसने हमारे ही घर के ड्राइंगरूम में बैठकर यह बताया कि रवींद्रनाथ टैगोर दाढ़ी क्यों रखते थे। पूछिए क्यों? क्योंकि एक बार उनकी ठुड्डी में फोड़ा हो गया था, जिसके सूखने पर एक गहरा गड्ढा और दाग वहाँ बन गया था, उसी को छिपाने के लिए महाकवि दाढ़ी रखते थे। सबूत देने की कोशिश में वी के उर्फ टैगोर ने बताया कि अपनी आँखों से कहीं पढ़ा था। कुछ विद्वान यह भी कहते हैं कि फोड़े के निशान या गड्ढे की जगह एक बड़ा-सा मस्सा या मांस का जमा टुकड़ा था। इन कुछ विद्वानों के नाम में बड़ी माथा-पच्ची।

'क्या कूबड़ भी था**?**'

भाई ने पूछा। वह हैरान था।

उसने किताबों में अब तक टैगोर का सिर्फ चेहरे तक का ही चित्र देखा था।

कराहते हुए टैगोर आकर ठीक हमारे सामने की कुर्सी पर बैठ गए थे। थोड़ा अपसेट थे। सुभाष बाबू से झगड़ा हो गया था, जिसे मतभेद-मतभेद कहकर लोग चिल्लाए। पर महाकवि तनिक विचलित न हुए। दाढ़ी को हल्के हाथों से सहलाते हुए बोले, 'अपसेट होने का मुख्य कारण यह फोड़ा है। दाढ़ी इसीलिए तो रखनी पड़ी। लोग कुछ छिपाने के लिए कुछ और करते हैं।'

चिंता की लकीर उनके माथे पर उभरते-उभरते मिट गई। उन्होंने सुभाष बाबू वाले प्रसंग को कुर्सी के नीचे खिसका दिया और रुक-रुक कर धीरे-धीरे लगे अपनी अमेरिका यात्रा का वर्णन सुनाने।

बहन से रहा नहीं गया। जो अब नहीं पूछा जार्ज पंचम के बारे में तो फिर टैगोर हाथ कहाँ आएँगे। लेकिन टैगोर ने हाथ नहीं लगने दिया, 'सब समय-समय का खेल है बच्चे।' वे फिस्स से हँसे। बेहद काइयाँ हँसी। उनकी उन्मुक्त हँसी के बारे में सुना था -झरने जैसी। उसे कहाँ रखकर आए हैं टैगोर? अपने समय में छोड़ आए क्या? हम

जानने की जिद करने लगे। लेकिन तभी उनके फोड़े में पीड़ा हुई। थोड़ा सा सिहरे वे। पीव की एक लकीर दाढ़ी में चिपकने लगी।

'थोड़ी रुई दीजिए।'

'हँसी' की बात बीते समय में छूट गई।

'आप एंटीबॉयटिक्स का इंजेक्शन क्यों नहीं लेते?' कोई उनकी हालत देखकर घबराया।

'हमें प्रकृति के रूप को बचाना है।'

'समय बदल गया है, आप ही ने कहा।'

'हाँ-हाँ, लेकिन क्या करें? कुछ भी मेरे हाथ में नहीं रह गया, न प्रकृति, न विज्ञान।'

आखिर टैगोर रुई से पीव साफ करते-करते रुके। एक क्षण उन्होंने आँखें नीचे की, फिर ऊपर उठाईं। उनकी आँखें सच की रोशनी से चकने लगी थीं। फिर एक संकोच उभरा -

'भई, इंजेक्शन से हमें डर लगता है।'

'धत् ससुर।' कहकर पापा इस बीच जोर से हँसे। वहीं बैठे-बैठे सारे दृश्य को ध्यान से देख रहे थे।

'नहीं, नहीं।'

वी के उर्फ टैगोर ने पूरी गंभीरता से कहा। फिर भाई की तरफ मुड़कर थोड़ा गुस्साकर बोला - 'क्या पूछते हो बेमतलब की बात-कूबड़-ऊबड़।'

'वह किताब मैं ढूँढ़कर पढ़ाऊँगा।'

प्रमाणित करने की इस कोशिश में उसने यह भी कहा कि अगर उसकी ठुड्डी फूटी या फोड़ा निकला तो वह भी दाढ़ी रखेगा। बस आगे न पूछिए, उसकी ठुड्डी फूटने और दाढ़ी बढ़ाने से पहले ही हमने उसका नाम टैगोर रख दिया।

(उसके इस नामकरण के लिए मेरे पूरे परिवार को माफ किया जाए। इसके अलावा अब कोई उपाय नहीं। नाम पड़ चुका है और चल रहा है।**)**

टैगोर मुझसे एक साल सीनियर थे। मुझसे एक साल पहले ही वे उस शहर पढ़ने जा चुके थे, जहाँ मैं एक साल बाद गई। कई बार मेरे साथ यहाँ से भी आते-जाते। कंजूसी उनकी जग-जाहिर। बिना टिकट यात्री। जरा सोचिए, मैं अपना टिकट ट्रेन में बैठी डरती रहती और वे बेधड़क। टी.सी. के आते अंतर्धान, टी.सी. के जाते उपस्थित। मैं इस अंतराल में थोड़ा अपने लिए डरती, थोड़ा उसके लिए। उसके लिए क्यों? यह मैं नहीं बता सकती। बस डरती। डरना थोड़ा-थोड़ा मेरी आदत में ही था या कह लीजिए घुट्टी में मिला था, डी रूटेड। यहाँ तक कि अगर कभी स्कूल में क्लास टीचर से यह पूछने जाना हो कि 'मैं अंत्याक्षरी में भाग ले सकती हूँ?' तो पूछने के पहले मेरा दिल इतना धड़कता, इतना धड़कता, मानो निकलकर क्लास टीचर के सामने गिर जाएगा। क्लास टीचर सहजता से 'हाँ' कर देतीं और मेरे भीतर पछतावे की छड़ी पड़नी शुरू। भला इतनी-सी बात के लिए क्यों डरी? अब नहीं डरूँगी। मैं निर्णय तक जाती। लेकिन कहाँ? फिर किसी उतनी ही छोटी बात के लिए वैसी ही हालत। अब क्या मानूँ इसे?

तो एक बार डरते-डरते मैं उसका पीछा करने लगी। ट्रेन में बैठे थे एकदम पास और टी.सी. के आने की आहट-भर से गायब। मैं नजरों-नजरों में तलाशती, धड़कते दिल से उसके पीछे। अंदाजिए। बाथरूम में थे टैगोर। मैं वापस। व्यर्थ की तलाश। टी.सी. को अपना टिकट दिखाया। टी.सी. वहीं बैठकर चाय पीने लगा। अरे कितनी देर बाथरूम में रहेगा बेचारा। घबड़ाती हूँ मैं। उसे क्या? मानो घंटों बाद टी.सी उठा। उसी के बाद टैगोर आए।

विश्वविद्यालय की लंबी और चौड़ी साफ-सुथरी-सी सड़क पसरी हुई थी, जिस पर मैं बड़ी तेज चल रही थी। वह भी पैदल ही चल रहा था। कैसे पता? वह बहुत तेज दौड़कर मेरे पास पहुँचा और हाँफते हुए बोला - 'लड़कियाँ भी इतनी तेज चलती हैं, बाप रे!'

'दौड़े क्यों? आवाज दे देते।'

'आवाज! सड़क पर कितने लोग हैं?'

' ? '

'इस शहर को तुम नहीं जानतीं, और फिर...'

'और' के आगे की बात अंडरस्टुड थी।

न जाने कहाँ यह 'और' शब्द मार देता है। मैं दुष्ट उबल पड़ी - 'बदनामी। यही न!'

मेरे भीतर का डर एक झटके में गायब।

गुस्सा भय के आवरण को काट देता है।

कौन बना देता है ऐसा शहर?

क्या सचमुच लोग इसे पूरा जान लेते हैं, कम से कम कहने भर का?

वह नहीं बोला। बोला कुछ कदम चलने के बाद।

'जरा दाहिने मुड़ो, तुम्हें इंजीनियरिंग कॉलेज दिखा देते हैं।'

'किसलिए?' मैं ऐंठी।

'दो मिनट लगेगा,' रिक्वेस्ट।

टैगोर क्यों आते हैं इधर? पूछिए मत। सीधी-सी बात है, जैसे वह इधर से आ रहे हों और इंजीनियरिंग की कोई लड़की साइकिल से आते-जाते गिर पड़े। वह दौड़ कर उठाएँ। इस प्रकार किसी इंजीनियरिंग करती लड़की से उनकी दोस्ती हो जाए। और अगर यह दोस्ती आगे बढ़ी यानी शादी तक तो बस फायदा ही फायदा।

अब मुझे घसीटकर यहाँ तक क्यों लाते हैं?

मकसद सीधा है। मेरी उस चोट खाई लड़की से दोस्ती। मतलब मैं माध्यम। मतलब मैं नायक-नायिका के बीच दूती। लेकिन मैं? न जाने क्यों घिसट आती हूँ उसके साथ।

लेकिन, मेरी क्या मति मारी गई है कि दूती बनूँ!

मैं उसकी इस चालाकी में से तब अचानक निकल जाती, जब वह इंजीनियरिंग कॉलेज के कैफेटेरिया तक पहुँचता। मैं झटके से कहती - 'मौसी के घर जाना है। देखो तो याद ही नहीं रहा। जरूरी है भई।' और जल्दी से आगे बढ़कर अपने रास्ते मुड़ जाती। देखा बच्चू!

'भूख लगी है, खा लूँ।' टैगोर ने मेरा हाथ एक क्षण को पकड़ा और छोड़ दिया।

'खा लीजिए।' मैं कैसे पसीज गई।

कैफेटेरिया के भीतर का दृश्य -

प्लास्टिक के कुछ गोल टेबल इधर-उधर पड़े हैं। उनके इर्द-गिर्द कहीं चार कुर्सियाँ पड़ी हैं, कहीं छह कहीं दो। कुछ लड़के वहाँ बैठे थाली में खा रहे हैं। एक कार्नर पर छोटा-सा बोर्ड लगा है - 'सेल्फ सर्विस'। कुछ लड़के वहीं से थाली लिए आ रहे हैं। लड़कियाँ एक भी नहीं हैं। मेरी आदत से निकलकर डर ने पूछा - एक भी लड़की नहीं, तुम कैसे?

मुझे अजीब लग रहा है। जहाँ लड़कियाँ हों, मेरी कोशिश होनी चाहिए कि वहीं रहूँ (सिखाया गया पाठ)। बस में बैठो तो पहले ध्यान से देख लो कोई महिला यात्री है या नहीं? ट्रेन में चढ़ो तो कोशिश करो लेडीज कंपार्टमेंट में बैठने की। जगह नहीं मिली तो कहीं और सही, पर लेडीज की बगल में। बच्चे के बगल में चलेगा। क्या, वहाँ भी जगह नहीं? कोशिश तो करो। कोशिश करने से सब होता है। सब। यही सब कभी इधर खींचता है कभी उधर। बस, सब नहीं होता।

वह भी झटपट एक थाली में खाना लिए आ गया। एक थाली, देखा कंजूसी। गोल टेबल के किनारे की एक कुर्सी खींचकर बैठ गया। मैं खड़ी हूँ। अपनी उपेक्षा कोड़े मार रही है। एक तो अकेली लड़की मैं, यहाँ खड़ी हूँ। इसी के मारे, और ऊपर से इसे मेरी फिक्र तक नहीं।

उस थाली में चावल, दाल, सब्जी, दही, मूली के दो कतरे और एक गुलाबजामुन था। एक छोटा चम्मच कोने में था। उसने खाने की हड़बड़ी में चम्मच उठाया। थाली को ध्यान से देखते हुए चम्मच पकड़े एक मिनट रुका, फिर चम्मच से गुलाबजामुन को आधा काटा और अचानक मेरी तरफ बढ़ा दिया।

उस चेहरे में क्या था**?**

कुछ छलकता हुआ-सा।

कुछ बहुत नरम, मीठा, आत्मीय या शायद इन शब्दों से अलग, ऊपर। या कुछ ऐसा, जो फिलहाल मेरी पकड़ से परे था। सच कहूँ तो मैं हैरान। समझ में न आए कि क्या मानूँ - एक थाली दोनों के लिए है या सिर्फ गुलाबजामुन का आधा हिस्सा है मेरा?

'विधु!' इतने में दो लड़कियों ने एक साथ पुकारा।

ये कहाँ से उग आईं इस वक्त!

मेरे पीछे मुड़ कर देखते ही वे हाथ बढ़ाए दौड़ीं।

'पीछे से देख कर लगा कि तुम्हीं हो। यहाँ क्या कर रही हो?'

ये लड़कियाँ इंजीनियरिंग की नहीं थीं। पुरानी परिचित थीं।

मैं उनसे बात करने लगी। बात क्या करने लगी, बहाने बनाने लगी। क्यों आई, कैसे आई, यहाँ क्यों रुकी, वगैरह।

हाथ में चम्मच, चम्मच में आधा गुलाबजामुन मेरी ओर बढ़ा हुआ, यह दृश्य वहीं फ्रीज हो गया।

तब से इस फ्रीज दृश्य में से न जाने कितनी बार मैंने वह आधा गुलाबजामुन खाने की कोशिश की, जो मेरे हिस्से का था, जो वहीं अटका रह गया था, जिस तक पहुँचने की सारी कोशिशें बेकार चली जाती थीं।

तो उनसे यानी राजरानी जी से मेरी मुलाकात बस अचानक ही हुई। नौकर आया था बुलाने और मम्मी ने कहा था - 'तुरंत जाना चाहिए।'

तब मैं बिना कुछ सोचे, पैर में ठीक-ठाक सी चप्पल जल्दी से डालकर, उस बड़े से मकान की तरफ नौकर के पीछे-पीछे गई थी।

नौकर ने कहा - 'बच्ची, इस कमरे में आइए। माता जी यहाँ हैं।'

यह मकान के आखिर में बना कमरा था। मकान के बड़ेपन ने थोड़ा-सा आतंक जमाया था और मैं हल्के तनाव में आ गई थी। इस हल्के से तनाव की वजह से (शायद) कमरे में पहुँचते ही मेरा ध्यान एक पैर पर पड़ा। बल्कि घुसते ही मुझे सिर्फ वह पैर दिखाई पड़ा, जो पीलापन लिए सफेद था, जिस पर रोएँ या बाल नहीं थे। वह सामान्य से अधिक फूला था। घुटने तक उस पर साड़ी थी। दूसरा पैर जरूर ढका रहा होगा। उस दूसरे पैर का मुझे बिलकुल ध्यान नहीं। कमरे की दीवार सफेद थी। यह मैंने पैर के बाद देखा। चारों तरफ कहीं कुछ भी नहीं टँगा था। लोहे की एक अलमारी एक तरफ पड़ी थी। इस तरह का सादापन भला-सा लगा।

'विधु!'

'जी, जी हाँ!' मैं हड़बड़ाई। फिर थोड़ा-सा डरी।

यह एक बूढ़ी आकृति थी, जिसकी नाक पर लगे लौंग का नग जगमग चमका। चेहरे की त्वचा खिंची हुई थी, बिल्कुल चिकनी, जितना कि वह पैर। आँखों के नीचे गुलाबी रंग जैसा घेरा, जो उन्हें बीमार बता रहा था। सिर के ऊपर तक साड़ी के पल्ले से ढँका

चेहरा, केवल वह सूजा पैर, घुटने तक खुला था। सिर के नीचे मोटा तकिया, बाँह के पास एक कुशन पड़ा था। ये ही राजरानी जी थीं, मैंने माना।

'तुम्हें इसीलिए बुलाया था...'

आवाज ठहर गई।

'किसलिए?' प्रश्न मेरी आँखों में टँका।

अब जाकर मुझे 'नमस्ते' करने की सुध आई। बिना हाथ जोड़े हल्का-सा सिर हिलाकर मैंने नमस्ते किया। एक पल के लिए उन्होंने आँखें बंद कीं, फिर खोलीं। यह शायद 'नमस्ते' का उत्तर रहा हो।

'तुम वहाँ पढ़ती हो?'

भला इसलिए मुझसे क्या काम हो सकता है। मुझे शहर में पढ़ने का औचित्य उनके बुढ़ापे या बीमारी से जुड़ता नहीं लगा। अरे हाँ, याद आया, उस शहर में तमाम साधु, महात्मा हैं, अँगूठी में पहननेवाले नग वगैरह... इसी तरह का कोई काम होगा या फिर मंदिर में प्रसाद चढ़वाना होगा।

'तुमसे अकेले में बात करनी है।'

उन्होंने करवट बदलने की कोशिश की - 'दरवाजा लगा दो।'

वे करवट नहीं बदल पाईं। मैंने चारों तरफ देखा। कहीं, कोई नहीं। नौकर जाने कहाँ गुम। दरवाजा भेड़ दिया। वे कुछ आश्वस्त हुईं।

'पहले नहीं कर सकती थी। कोई न कोई सुन लेता था। सुने न, तो भी डर रहता ही था।'

उन्होंने अपने को बड़े कठिनाई से थोड़ा सा उठाया। दौड़कर मैंने उठने में उनकी मदद की।

'दीये में एक-एक पल भस्म हुआ जाता है।'

वाह, क्या डॉयलॉग! मुझे इस तरह की बातें अच्छी लगती थीं। कुछ-कुछ दार्शनिक-सी, जीवन को दूर खड़े होकर देखने जैसी।

काव्यमय बातें, रोमांटिक।

'मन भी एक चीज है गुड़िया।'

वे हँसने-हँसने को हुईं पर हँसी की जगह कराह-सी निकलकर रह गई। उनका हाथ उनके पेट पर चला गया। पेट की साड़ी सरकाकर पेट सहलाने लगीं। मैं उसी पैर के पास बैठी थी, वहीं से मैंने उनका पेट देखा, चिकने घड़े सा गोरा-गोरा। उस पर पेटीकोट अटकाकर साड़ी पहनी गई थी। पेट सहलाते-सहलाते वह रुकीं।

'जब जिंदगी-भर निभा दिया तो आखिरी वक्त में क्या नौटंकी करूँ। तुम्हारे अंकल को नापसंद है गाउन। नहीं पहनने दिया। अब देखो डॉक्टर कहता है गाउन पहन लो, मैंने मना कर दिया। तुम्हारे अंकल को अच्छा लगा।'

वे रुकीं - 'सहूलियत भी कोई चीज है गुड़िया!'

वे मेरा नाम भूल गई हैं। या शायद कुछ वैसा हो, जैसे हर ढाबे का नौकर छोटू, वैसे ही हर लड़की गुड़िया।

उनका सिर खूब हिलता-डुलता था, लेकिन पेट और पैर को खींचकर इधर-उधर करना पड़ता था। उन्होंने इशारे से पास बुलाकर मुझे एक चाबी पकड़ाई। चाबी हथेली में पकड़े मैं एक क्षण के लिए वह सब सोच गई, जो मंत्रणाएँ मेरे माता-पिता ने अलग-अलग मुझे शहर जाकर पढ़ाई करने के पहले दी थीं। मैं किसी की अलमारी पहले ही परिचय में खोलूँ या नहीं, अजीब पसोपेश की स्थिति थी - अब मुझे यह अच्छा नहीं लग रहा था। पर उनका इशारा। मैंने अलमारी खोली और उन्हीं के बताए ठिकाने से एक गठरी निकाली। गठरी खोली तो उसमें कुछ धुले कपड़े थे। कपड़ों के नीचे से उन्होंने एक कपड़ा खींचा। यह लाल काले प्रिंट का एक गाउन था।

'कैसा है?'

'बढ़िया।'

'उन्हें हल्के रंग पसंद हैं और मुझे गाढ़े।'

वे फिर हँसने को हुईं। फिर हँसी कहीं अटकी रह गई।

'लीलावती से कहा था कि लाल-काले प्रिंट का ही लाना। अच्छा लाई। लगाकर देखो, पहना हुआ नहीं है।'

मैंने अपने ऊपर लगाया। वे खुश और आश्वस्त। लेकिन अचानक हाथ बढ़ाकर उन्होंने गाउन लगभग छीन लिया।

'वैसे ही यह लगाकर रख दो।' नाराज सी वे।

मैं डर गई। जल्दी-जल्दी तह लगाने लगी।

'वह ब्लाउज शहर से सिलवाया था?' वे फिर सामान्य।

मैं दंग। ब्लाउज, कौन-सा? वे समझ गईं।

'वही, जो उस दिन पहना था, ललाई लिए कत्थईवाला।'

कौन-सा घाव छिल गया। तो ये भी जानती हैं। बहुत से लोगों ने देखा होगा मुझे। वही, शादी के पहलेवाली नौटंकी। मुझे दिखाया जाना था। हालाँकि किसी को पसंद नहीं था यह रिवाज। मम्मी बिल्कुल नहीं चाहती थीं, पापा को भी ढकोसला लगता। मैं भी कहाँ तैयार थी कि सजकर खड़ी हो जाऊँ कि देखो कैसी हूँ? कैसी हूँ? मतलब देह कैसी है - और क्या?

मंदिर में दिखाना है। कोई भक्ति-वक्ति की वजह से नहीं, बल्कि इस कस्बे में उससे बढ़िया कोई जगह कहाँ है! न कोई बात होनी है, न पूछने-पाछने के फालतू वाक्य फेंके जाने हैं। तो हम तीनों तैयार होकर मंदिर जा रहे हैं, साथ बुआ भी। मैं मन ही मन सोच रही थी कि माँ-बाप को कितना परेशान करूँ? क्या फरक पड़ेगा अगर मंदिर में कुछ देर को खड़ी हो ही गई, किसी ने तौल ही लिया देह को, बुद्धि को तो नहीं देखा न। और फिर मैं अपने माँ-बाप के लिए वहाँ तक जा रही हूँ... (पर यही मैं नहीं चाहती थी - दिल से)।

माँ भी कुछ इसी तरह सोचते हुए चल पड़ी थीं। लगता है इस दिखावे के बिना शादी नहीं कर पाएँगी लड़की की। भेजा था इसे शहर पढ़ने कि जा किसी को वहीं पसंद कर ले, पर इससे नहीं हुआ। कोई इसे ठीक ही नहीं लगता। चलो, एक तरफ से भला भी है कि म्लेच्छों के चक्कर में नहीं पड़ी। अब क्या करूँ? मैं तो समाज से बाहर नहीं जा सकती। लड़की ही जिद करके क्यों नहीं कह देती कि उसे नहीं पसंद...

ठीक कुछ इसी तरह पापा भी सोच रहे होंगे। वे जरूर सोच रहे होंगे कि अगर उनका वश चलता तो वे लड़केवालों का मुँह नोच लेते, एक तो दहेज से परेशान, ऊपर से लड़की देखकर इनकार कर-कर के अपमान करना, पर उनका वश कहाँ?

न जाने किसके वश से ये लोग चलायमान हैं?

जी हाँ, मुझे दी गई थी स्वतंत्रता। माँ-बाप दोनों ने शहर भेजते समय कहा था कि कोई पसंद आए तो बता देना और साथ ही यह भी कह दिया था - 'बेटा सोच-समझकर कदम उठाना। मुसलमान, पंजाबी, एस.सी.एस.टी. की तरफ मत देखना। बिहारी, बंगाली वगैरह बड़े शातिर होते हैं, उधर मत जाना। आंध्र, केरल वगैरह में सब कुछ इतना भिन्न है कि कभी पट नहीं सकती। बेटे, उधर मुँह न करना। ये जो लड़के तुम्हारे साथ वहाँ पढ़ने गए हैं, सब यहाँ के कूड़ा हैं, उनके चक्कर में न आना...।

अब बचा कौन?

कैसे करूँ इस स्वतंत्रता का उपयोग?

मुझे दिखाए जाने का अभियान शुरू हआ। मैं बनारसी साड़ी पहने, बनारसी ब्लाउज, वह भी मम्मी का, जिसे मैंने बगल से सीकर लगभग अपने नाप करके पहना था और इसी वजह से वह 'लो नेक' का लग रहा था। कलाइयों में सोने का आभास देने वाला नकली कंगन, गले में मम्मी की सोने की चेन, कान में बुंदे, होठों पर लिपिस्टिक, चेहरे पर कुछ मेकअप पोते, ढक की तरह मंदिर में जाकर खड़ी हो गई थी। 'ढक' की तरह इसलिए कि इतना सब पहन ओढ़कर मैं लगातार अपनी साड़ी के पल्ले, ब्लाउज की फिटिंग और चेहरे के मेकअप को लेकर चिंतित थी। बुआ, जो इस विशेष आयोजन के लिए बुलाई गई थीं, घर से निकलने से लेकर रास्ते भर खूब हिदायतें देती रहीं। बल्कि दरवाजे से निकलने तक वे कई बार फेस पाउडर से गाल-माथे वगैरह को चिकना बनाने की कोशिश करती रहीं और अंत में यह भी कहा - 'छाये-छाये में चलना, पसीना न आने पाए, नहीं तो मेकअप...'

तो इस मेकअप की चिंता के मारे मैं बेहाल। आँख में किरकिरी जैसा कुछ चुभ रहा है तो पोंछूँ कैसे? जुबान वैसे ही तालू से चिपक गई है, बुआ से भी कुछ कहते नहीं बन रहा है। हे प्रभु! कब तक इस परत के नीचे दबना है?

तो ऐसी ढक लड़की, जो आवश्यकता से अधिक दुबली थी, जिसका लो नेक ब्लाउज बहुत कम उभारवाले वक्ष को हास्यास्पद बना रहा था। जिसने लंबाई बढ़ाने के लिए हील की चप्पल पहना था, उसके बावजूद उसकी चाल सपाट थी, जिसकी हिरनी जैसी आँखें नीचे झुके होने के कारण किसी को ठीक से दिखी ही नहीं (ऐसा मैंने माना)... आदि-आदि सी आकर्षक लड़की, जो सिर्फ अपने आप को देख रही थी, नापसंद कर दी गई।

'वैसा ही मुझे सिलवा दो।'

मैं अभी नापसंदगी के दर्द से निकली नहीं थी।

लोग किसे कहाँ मारते हैं, जानते तक नहीं।

इसी बीच उन्होंने गठरी में से एक ब्लाउज खींच लिया।

'आओ, मदद करो।'

वे अपने पहने ब्लाउज का बटन खोलने लगीं। अपने को भरसक खींच-खींच कर वे मुझे ब्लाउज उतारने और पहनाने में भरकस सुविधा दे रही थीं।

'ठीक है न।' उन्होंने फिटिंग के लिहाज से पूछा।

हालाँकि ब्लाउज के नीचे के दो बटन उनके सूजे पेट के कारण बंद नहीं हो सके। मैंने 'हाँ' में सिर हिलाया। फिर से उतारने का तकलीफदेह क्रम शुरू हुआ और फिर पहले वाले ब्लाउज को पहनाया गया।

'इसे साथ ले जाना। बाँह छोटी, साढ़े तीन इंच या चार जितनी कि तुम्हारी थी। पीछे गले से लो और आगे से इतना ही।'

फिर वे अपने ब्लाउज के आगे के हिस्से को छूकर हँसने को हुईं, फिर हँसी नहीं निकली। कराह-सी उठी। वे पेट सहलाने लगीं - 'सब अपनी-अपनी ड्यूटी करते हैं, मैंने भी की। पछताती नहीं हूँ।'

अब मैं क्या कहूँ, कुछ समझ में न आए। वे फिर गठरी में कुछ खोजने लगीं।

'दो सलवार-सूट भी ले आना, जैसा तुम पहनती हो। अब की दोनों आएँगी, वही रीमा-सीमा, उनको दूँगी। बताना मत किसी को।' चेहरे पर भय... किंतु तुरंत सतर्क...। हाथ गठरी में कुछ-कुछ खोजता हुआ।

'मुझे शौक था अलग-अलग जगह की चीजें इकट्ठा करने का...'

उनके चेहरे पर रसगुल्ला खाने की चाहत जैसे चमक उभरी पर तत्क्षण विलीन- 'उन्हें फालतू लगता। ...आदमी को सब चाहिए, इच्छाएँ भी, सहूलियत भी।'

फिर वही सब, जो नहीं होता।

अचानक गठरी में से उन्होंने दो पेंटिंग ब्रश निकाले। पुराने।

'रँगती हो, माने पेंटिंग?'

'जी, थोड़ा-थोड़ा...'

फिर वही थोड़ा-थोड़ा। कोई भी काम पूरा कर पाना हो ही नहीं पाता। उन्होंने ब्रश मेरे हाथ में पकड़ा दिया।

'मैं भी रँगती थी। शादी के पहले। तब के हैं ये।'

फिर वही हँसन-हँसने को हो आना। अगर वे हँस पातीं तो कमरा अब तक हँसी से भर गया होता (मन का अंदाज)।

ब्रश मेरे हाथ में पड़े थे, थरथराते हुए, छोटी-छोटी लकीर से।

एक कुछ मोटा, दूसरा पतला। लकड़ी का रंग कुछ घिसा हुआ भूरा। मेरे भीतर का भूरापन उनसे टकराकर टूटा। मुझे नहीं जाने दिया गया था पेंटिंग सीखने। फीस मात्र पचास रुपये पर फालतू की। फालतू के काम के पचास रुपये? भला क्या होगा पेंटिंग सीखकर? कलाकार बनना है? नहीं न, खाने-कमाने का जुगाड़ करना है। पता नहीं शादी हो भी पाएगी कि नहीं? इसलिए नाक की सीध में पढ़ाई करते हुए विश्वविद्यालय तक जाना है। वहाँ मूँगफली नहीं खाना है, चाट नहीं खाना है, रिक्शे पर बैठते समय मितव्ययिता के पाठ को याद रखना है। सुनो बच्ची, वे दुष्ट लड़कियाँ हैं, जो चाट खाती हैं, मूँगफली खरीदती हैं, फिल्म देखने जाती हैं, चटपटी खबरें सुनती-सुनाती हैं और लड़कों से दोस्ती... अपना ध्यान भटकाना है क्या? लड़की, उठो और जुट जाओ पढ़ने में। किताबें जो कहती हैं, उसे मत सुनो, बच्चे, तुम्हें पढ़ना है, केवल पढ़ना। पढ़ना, सुनना और फिर गुनना, ये तीनों अलग चीजें हैं। इन्हें अलग करके रखो।

उन्होंने मुझे करीब खींचने की कोशिश की। मैं खुद ही खिंच आई।

'इसी में थे।' उनकी आवाज काँपी।

मेरी दोनों हथेलियों को उनकी बेजान सी हथेलियाँ ढके हुए थीं - 'तुम्हें देना चाहती थी, वे सिक्के, चाँदी के...'

उनकी आँखें पनीली। हथेलियाँ उन अनदेखे सिक्कों की खनक से भरी। मेरा दिल भर आया। जमाने भर की खुशियाँ उन्हें दे डालने का मन हुआ - अगर मेरे पास कुछ भी होता तो। उठकर मैंने उनके सिर पर हाथ फेरा।

'बताना मत!' लाचारी और विवशता से उनका चेहरा और बूढ़ा।

'जाओ।' इशारे में यह उन्हीं का आदेश।

मैं लपककर दरवाजे से बाहर। नाप का ब्लाउज काँख में और कुर्ते की जेब से झाँकता ब्रश लिए। बाहर, मानो मेरे ही इंतजार में उनका बेटा और बहू खड़े थे। कुछ दूर हटकर, लगभग दरवाजे के निकट धूप में उनके पति ठाकुर साहब भी खड़े थे।

'आप उनकी बातों पर मत जाइएगा।'

क्यों? मैं पूछना चाहती थी।

पर बहू ने तत्काल सफाई दी - 'वे अपने सेंस में नहीं है न। आप सोचिए, जिसने जिंदगी में कभी कुछ नहीं माँगा, वो इस तरह सबसे... बीमारी और बुढ़ापे ने उन्हें ऐसा... जाने क्या-क्या माँगती हैं... अब क्या बताऊँ, वो सरदारिन आंटी है न, उनसे सनील का कढ़ाईवाला सूट मँगवाया है, दबका कढ़ाई... आपसे भी मँगवाया होगा, आप कुछ मत लाइएगा प्लीज...!' इतना कहते-कहते बहू ने अपनी आँखों में भर आए आँसू पोंछे।

'वो कहते हैं न, बुढ़ापे में बचपन। वैसा ही कुछ हो गया है मम्मी को। हर बात में जिद करती हैं। टीवी देखती हैं और टीवी में आनेवाली हर चीज माँगती हैं। ...क्या करें हम लोग! लाते ही हैं। पर दूसरों से माँगती हैं, तो अच्छा नहीं लगता। लगता है जैसे हमलोग नहीं देते।'

यह उनका बेटा था। जो सिर झटक-झटककर बोल रहा था।

'कुछ दिया भी होगा?'

मेरा हाथ अनायास ही जेब में चला गया। न जाने कैसे उन अनदेखे सिक्कों की खनक हथेलियों से निकलकर मेरे जेब में भर गई थी। जेब खनक रही थी। क्या उलीच दूँ इनके सामने?

निराशा और दुख से हिलता हुआ उनका चेहरा।

कुछ ऐसा दुख, जिसे हम अपना नहीं मानते, पर होता है अपना ही।

'ये है!' घबड़ाकर मैंने हथेलियाँ सामने फैला दीं।

'ब्रश हैं।'

आश्चर्य है कि वे केवल दो ब्रश देख रहे हैं।

'और ये भी।'

मैंने काँख में दबा ब्लाउज दिखाया।

'ऐसा कुछ मँगाया नहीं है।' सच मिलाकर झूठ।

इस झूठ ने मुझे राहत दी पर ब्लाउज अपराध के प्रमाण की तरह सबके सामने अड़ा रहा।

'चाय पीकर जाइए।'

'नहीं।'

इस इन्क्वायरी की कोफ्त से निकलने की जल्दी। लेकिन कहाँ?

ठाकुर साहब ने रोका - 'बेटी!'

एक हिलक-सी उठी।

'दो साल से इन्हें लेकर दिल्ली दौड़ रहा हूँ। डॉक्टर ने तो कब का जवाब दे दिया था, लेकिन गुरु जी ने सब सँभाल लिया। उनकी कृपा से चार के आठ महीने हो गए... मैंने उन्हें कोई कमी नहीं होने दी। कहने से पहले ही लाकर रख देता। घर भरा-भरा लगता। कितने करीने से साड़ी पहने इधर से उधर, उधर से इधर, पूरे घर में...' वे वाक्य पूरा नहीं कर पाएँ। रो पड़े। पहली बार मैंने किसी इतने बूढ़े आदमी को रोते देखा। वह भी पत्नी के लिए। शायद बूढ़े आदमी पत्नी के लिए रोते होंगे। बुढ़ापे का सहारा छिनने का दुख या जीवन के प्रति उपजा अतिरिक्त मोह या फिर पहले के पूरे न किए गए कर्तव्यों का पश्चाताप, कुछ, जो उन्हें अतिरिक्त रूप से उद्वेलित करता होगा।

वे धीरे-धीरे बुदबुदा रहे थे। मैं उनके सामने खड़ी बड़ी असहज हो रही थी। कभी ब्रश को अँगुलियों से रगड़ती, कभी ब्लाउज की तह को और छोटा करती। मन होता कि ब्लाउज छोटा होते-होते अदृश्य हो जाए।

'बिना उनके कहे उन्हें चारों धाम यात्रा पर ले जा रहा था। काशी तक तो भूले में चली गईं। विश्वनाथ जी का दर्शन भी कर आईं। लेकिन आगे न जाने पर अड़ गईं। न रामेश्वरम् न केदारनाथ, बद्रीनाथ। बच्चों जैसी जिद। लौटा। छिपा-छिपा कर लिपस्टिक मँगाती हैं दूसरों से, अब इस उम्र में... जानता हूँ लगाती नहीं हैं। मेरा मान रखती हैं। जानता हूँ। बेटी, लेकिन दूसरों से क्यों मँगाती हैं, मुझसे क्यों नहीं कहतीं? मैं लाकर दूँगा... मुझसे कहें...।'

वे अकड़ते अकड़ते ढीले पड़ गए। गले में गमछा टाँगा था, उसी से आँखें पोंछने लगे।

मैं क्या बोलूँ? जो कहना चाहिए कह पाऊँगी?

'देखो, तुम्हें जो कूची (ब्रश) दिया है, लकड़ी के पुराने जमाने के हैं। अपने साथ लाई थीं। मैंने कभी मना नहीं किया कि पेंटिंग न करो। हाँ, मुझे यह कभी पसंद नहीं था कि औरतें घर का काम-धाम, बच्चे, पति छोड़कर चित्र बनाने लगें। यह तो किसी को भी पसंद नहीं होगा। मैंने हमेशा यही कहा कि समय निकालो। बस, बच्चे परेशान न हों, घर का काम न छूटे, मैं आऊँ थका-माँदा तो मेरे साथ कुछ हँसें-बोलें। बताओ, मैं दोषी कैसे हुआ?'

उनकी हल्की-सी सिसकी।

'बेटा, तुम समझदार हो।'

वे जो कुछ कह रहे थे, उसमें डूबे हुए थे पर मेरा समझदार होना उन्हें किसलए याद आया?

'कितने कम दिन बचे हैं, समझती नहीं। मैं कमरे में जाता हूँ तो मुँह उधर कर लेती हैं, बात करने की कोशिश करता हूँ तो सोने का नाटक करती हैं... दूसरों को बुलाकर अकेले में बातें करती हैं, जाने क्या-क्या कहती हैं। मैं सामने पड़ जाऊँ तो बात रोक देती हैं। लोग क्या सोचते होंगे? समझ नहीं आता क्या कमी रह गई। हे राम, कितने कम दिन बचे हैं...। जाओ बेटा, तुम जाओ! क्या बूढ़े की बकवास सुनोगी।'

'मैं समझ सकती हूँ।'

मैंने बेकार में अपनी समझदारी का प्रदर्शन किया।

वे अंदर की तरफ मुड़ गए-गमछा हाथ में मलते।

हालाँकि उनके मुड़ने के पहले ही मैंने सिर हिलाकर सबको 'नमस्ते' किया था। पर माहौल इतना गमगीन था कि किसी ने भी मेरे नमस्ते का जवाब नहीं दिया।

लगता है, जैसे बारी-बारी से दो बूढ़ों ने अपने-अपने जीवन का पत्थर मेरे सिर पर रख दिया हो - इतनी थकी लौटी मैं।

'अकेले में तुमसे क्या बात की ठकुराइन ने?'

अकेले की बातों के रहस्य को जान लेने की इच्छा भरभरा उठी... माँ का स्वर तैरा।

नाप का ब्लाउज और जेब से निकालकर दो ड्राइंग ब्रश, सिक्कों की खनक के एहसास में लपेटकर, बिस्तर पर रखकर मैं लेट गई। फिर भी जेब में कुछ चुभता रहा।

'विद्योत्तमा!'

पहली बार मेरे नाम का ठीक उच्चारण, वह भी सड़क पर। टैगोर अपने विचार भूल गए क्या? हाँफते-हाँफते आकर रुके।

'तुमसे कुछ बात करनी है, अकेले में।'

'अकेले में' सुनकर मैं थोड़ा-सा डरी। डर को दबाने की कोशिश में थोड़ा घबड़ाई भी। यह दूसरा मौका है, जब कोई मुझसे अकेले में बात करना चाहता है। पहला मौका, वही, जब राजरानी जी ने अकेले में बात की थी। अब इसे भला क्या बात करना है?

मेरे भीतर कुछ बजा - सुंदर, कोमल कुछ दमक उठा। सुना था कि लड़कों को जब अपने दिल की कोई बात करनी होती है तो वे एकांत का सहारा लेते हैं। तो वह चिर-प्रतीक्षित घड़ी आखिर आ ही गई। यह सोचकर अच्छा लगा। डर और घबड़ाहट के ऊपर था यह अच्छा लगना।

'कहिए भी!' मैंने जान-बूझकर कहा।

कोई प्रस्ताव रखे और तुरंत मान लो, ऐसा नहीं करना चाहिए। जैसे कि कोई कहे एकांत में चलो और तुरंत चल पड़ो, ऐसा नहीं होना चाहिए, यह मैंने सुना था। मेरे नसीब में ऐसी कोई घड़ी नहीं आई थी। बस, वह एक बार राजरानी जी के साथ का

एकांत, जिसके लिए मैं कुछ कह नहीं सकती थी। माता-पिता की हिदायतें, अपना ही डर, ऊपर से कुछ अच्छा लगना... इस मौके को खोना क्या ठीक होगा? सब मिलाकर कन्फ्यूज्ड थी मैं। बस, इसीलिए जान-बूझकर कहा - 'कहिए भी!'

'यहाँ नहीं।' उन्होंने दृढ़ता से कहा।

कहाँ बैठें? यह तय करना मुश्किल।

कला भवन की तरफ। नहीं, नहीं, वहाँ लोग आते-जाते ही रहते हैं। एकाध लोग परिचित भी हैं। हिंदी भवन, क्या मुसीबत खड़ी करनी है? इंजीनियरिंग कॉलेज, देखा नहीं था उस दिन का हाल। जो भी भवन लो, उसी के साथ लोग... दफ्तरी समय में यही तो होगा। अँधेरे में कहीं आ-जा नहीं सकते - (संस्कार के मारे)। सो हम धीरे-धीरे चलकर बोटेनिकल गार्डेन तक आए। वहाँ कोई नहीं था। सीमेंट की बेंच पर हम दोनों थोड़ा दूर-दूर बैठ गए। टैगोर अपने जूते से मिट्टी कुरेदने लगे। जूता जब ज्यादा गंदा होने लगा तो पैर पटककर उन्होंने जूते को झाड़ा और मिट्टी हटा दी।

बगल की क्यारी में तमाम पौधे थे, जिसमें से मैं केवल छुई-मुई का पौधा पहचान रही थी और उसे ही लगातार देख रही थी।

कौन-सी बात फूटेगी इस एकांत से?

मेरा मन हल्का-हल्का काँप रहा था।

ये मेरे यहाँ के कूड़े (हवाले से मम्मी-पापा) इतने बुरे भी नहीं। टैगोर के साँवले चेहरे में कितनी कशिश है और मूँछे कितनी फबती हैं उन पर। थोड़ा परेशान-परेशान रहते हैं, परिस्थितियाँ ठीक होने पर वे भी ठीक हो जाएँगी। लंबे ज्यादा हैं। लंबे लोगों का एक शारीरिक व्यक्तित्व बनता ही है। मैं पहली बार इतने मन से उनकी लंबाई, रंग, आँखों और परेशानियों के बारे में सोच रही हूँ। उनके साथ बीते क्षण, न जाने कितने छोटे-छोटे दृश्य...

'तुम्हारी मौसी यूनिवर्सिटी में हैं न!' उन्होंने सिर नीचा किए-किए कहा।

'हूँ!'

मुझे अच्छा नहीं लगा। बात के इस तरह शुरू होने की उम्मीद मुझे हर्गिज नहीं थी।

'तुम देख ही रही हो मेरी परिस्थितियाँ... सोर्स-फोर्स का जमाना है। लेक्चररशिप... कोई ठिकाना नहीं लगता।' उन्होंने गहरी साँस ली। मेरी तरफ एक नजर डालकर फिर नीचे सिर। भविष्य के लिए उनकी यह चिंता जायज लगी। सोचना ही चाहिए उसे इस तरह। मैं अपनी असहता से उबरने लगी।

'परेशान होने से क्या होगा।' पूरे मन से कहा मैंने।

'तुम बहुत समझदार हो।' एक हल्की मुस्कराहट मूँछों में छिपती-सी।

मैं संकोच से भर गई। एक सुंदर संकोच!

कुछ पलों का सन्नाटा, फिर सन्नाटे में आवाज।

'यूनिवर्सिटी में कुछ एडहॉक पोस्ट निकली हैं। सोचता हूँ उसी...'

'अरे यह तो बड़ा अच्छा सोचा आपने!'

'ऐसे ही तो नहीं हो जाएगा, लोग इतना सोर्स लगा रहे हैं।'

वे उदास। मैं चिंतित।

'तुम चाहो तो हो जाएगा।' अबकी उन्होंने सीधे मेरी तरफ देखा।

'मैं? कैसे?'

'तुमसे रिक्वेस्ट है, मैं कभी भूलूँगा नहीं।'

'पर कैसे? मैं क्या करूँ?'

मैं अपनी पिछली सोच से जल्दी निकल क्यों नहीं पाती - हैरान हूँ खुद से।

'मौसी से कहो न! प्लीज, मेरी मदद करो। कभी नहीं भूलूँगा यह एहसान।'

झटके से वह मेरे पैरों के पास झुक गया, मानो मेरे पैरों पर लोट जाएगा।

'अरे नहीं!' मैं चौंककर खड़ी हो गई।

'प्लीज! मैं तुम्हारा बहुत आदर करता हूँ। जो कहोगी, करूँगा। प्लीज! न मत करो।'

रिरियाता हुआ स्वर। मेरी सैंडिल पर उसका हाथ। झटके से मैंने पैर हटाया।

क्या करने को कहूँगी और वह करेगा?

किसी ने मुझे बहलाया-फुसलाया और मैं बहल गई - यही हूँ मैं?

बस इतनी ही हूँ? लाभ का स्रोत? सोर्स का रास्ता?

मेरी आँखों में आँसू आने को हुए, रोका जबरन।

सोचती थी जैसे-जैसे बड़ी होती जाऊँगी, मजबूत और हिम्मतवाली हो जाऊँगी। पर कहाँ? कमबख्त! इतनी छोटी-सी बात पर आँसू छलकने को हैं!

'अच्छा।' कहकर तेजी से बॉटेनिकल गार्डेन से निकल आई।

सड़क पर तेज कदमों से चल रही हूँ।

यह क्या है? मेरा दूसरा रिजेक्शन।

रिजेक्शन की चुभन कष्ट दे रही है।

ऐसे ही रास्तों से निकलकर मंजिल तक पहुँचना होगा या ऐसे ही काँटे बटोरते पहुँचती होंगी लड़कियाँ?

यह चुभन जितनी तेज होती है, मेरी चलने की ताकत बढ़ती जाती है। अचानक लगता है इसमें कोई ऊर्जा छिपी है। जितनी तीव्रता से यह कचोटता है, उतनी ही तीव्रता से कुछ कर डालने की इच्छा बलवती होती जाती है। अच्छा है ये रिजेक्शन - प्रेरणापद।

सोचती जाती, चलती जाती। जाने कितना रास्ता पैदल पार कर लिया। किनारे पर एक मूँगफली वाला ठेला लगाए खड़ा था।

अचानक मूँगफली के प्रति तीव्र इच्छा हुई।

रिजेक्शन इच्छाएँ पैदा करता है।

उन्हें पूरा करना सिखाती है।

रिजेक्शन थोड़ा तोड़ता है तो अधिक से जोड़ देता है। सचमुच। मुझे अपने आप पर हैरानी हुई। ऐसा पहले क्यों नहीं सोच पाई मैं? एक अच्छा-सा अहसास पल-भर को उठा और गायब। बैकग्राउंड में एक लहर तैरने लगी - 'मेरा दिल तोड़ दिया, इसका बुरा क्यों मानूँ...' एक लड़की फिर तैरती हुई आई और इस गाने के साथ-साथ सड़क पर,

अपने दोनों हाथ सीधे लटकाए, एक कंधे पर झूलता पर्स लिए चलने लगी। वह उदास है। दुखी है। कैसी अजीब चाल से चल रही है - 'मेरा दिल तोड़ दिया... उसको हक है वो मुझे प्यार करे या न करे...' शायद वह इस गानेवाली फिल्म की नायिका है। वह आगे-आगे चल रही है, मैं उसके पीछे-पीछे...

अचानक लड़की अपने कंधे का पर्स ठीक करती है। उसकी चाल तेज हो जाती है, बिलकुल सधी हुई। अब ध्यान जाता है कि उसने काला कोट पहना है। वकील है। उसे शायद अपने केस की तैयारी का ध्यान आ गया है। लड़की गाने की ध्वनि को कुचलती हुई बहुत आगे निकल जाती है - मेरी आँखों की पकड़ से बाहर।

आदमी एक ही भाव में नहीं बना रह सकता। मैं भी रुककर देखती हूँ कि मैं कहाँ आ गई। खरीदी हुई मूँगफली अपने थैलेनुमा बैग में डालती हूँ और दाहिने मुड़ जाती हूँ। मुझे भी अपने तमाम काम ध्यान आने लगे हैं।

चलो, लगे हाथ छोटी बहन के लिए फाइन आर्ट्स की जानकारी लेती चलूँ। वहीं इंटरेन्स टेस्ट की तिथि भी पता चल जाएगी। मैं दाहिने ओर से मुड़कर तेजी से कला भवन की तरफ चलती हूँ। परिचितों से भी कुछ पता चल जाएगा। चाहती हूँ कि बहन बी.एफ.ए. कोर्स कर ले। चाहती क्या हूँ, बल्कि इस समय बहुत ज्यादा चाहने लगी हूँ। अपने थैले को एक हाथ से पकड़े बहुत तेज चल रही हूँ। कितने किलोमीटर चली हूँ, पता नहीं।

इतनी स्फूर्ति देता है रिजेक्शन।

अचानक महाकवि, कंधे पर खादी भंडार का झोला लटकाए, दाढ़ी पर हाथ फेरते पीछे से आए और साथ चलने लगे। वे बेहद गंभीर थे।

'मैंने स्त्री की बहुत सुंदर छवि बनाई थी। न जाने कैसे मेरे हाथ से सब फिसल गया...' वे टुकुर-टुकुर देखने लगे।

'बाँटा तो ठीक ही गया था। पर बाद में सब गड़बड़ होता चला गया। औरत को घर गृहस्थी ही करनी चाहिए, अब किस मुँह से कहूँ?'

किसकी घर-गृहस्थी करोगी तुम विधु?

अपनी ही न।

सामान कहाँ से लाओगी विधु?

पैसों से न।

खाओगी क्या विधु?

पैसा न।

कहाँ से लाओगी वह?

नौकरी से!

वह तो करनी ही पड़ेगी।

लेकिन नौकरी कहाँ है विधु?

महाकवि हिलक-हिलककर रो उठे।

'डराने वाले बहुत हैं महाकवि!'

सिर उठाकर मैंने सीधा टैगोर की आँखों में देखा। वे दुख से गल रही थीं। औरतें उसी में बही जा रही थीं। मन ने चाहा कि दुख से गल रही उनकी आँखों में हाथ डालकर तमाम औरतों को निकाल लूँ। पर वे चौंककर चुप हो गए। दाढ़ी पर हाथ फेरने लगे। फोड़े की कसक स्मृति से निकल आई। चाल धीमी पड़ गई। बहुत धीमी। धीरे-धीरे वे पीछे छूट गए। मैं आगे आ गई। जैसे लोहा, लोहे को काटता है, भय, भय को मार देता है।

तो वे यानी ठाकुर साहब इस हल्की-हल्की-सी ठंडी हवा में भी कँपकँपी महसूस कर रहे हैं। 'साली' वे पत्र से नजर हटाकर आकाश की तरफ मुँह करके बड़बड़ाए। फिर दो कदम आगे बढ़कर पेड़ की ओट हो गए। अक्षर बड़े थे। चश्मे की आवश्यकता नहीं थी फिर भी आँख पर जोर पड़ ही रहा था। दूसरे वे बड़बड़ा भी रहे थे। पढ़ते-पढ़ते रुक जाते, फिर पढ़ते। पत्र की जिन लाइनों पर उनका अँगूठा होता वे भीतर से दमक उठतीं - 'यह मेरी देह... इसे भी अपना कैसे कहूँ...'

'हे प्रभु!' वे बड़बड़ाए। अशांत मन। ऐसा सोचती थीं वे। तो क्या अब तक वे जान ही नहीं पाए, न स्त्री देह को, न मन को... हे प्रभु, वे किसके साथ रहे अब तक? अटपटाए से वे पत्र में एक जगह रुक जाते हैं - यह क्या? दुबारा, तिबारा वही वाक्य - 'मरने के बाद यह मेरे अधीन होना ही चाहिए... मरने के बाद मैं राजरानी बनना चाहती हूँ। राजरानी मतलब मैं... सिंदूर, टीका, पायल, मंगलसूत्र, नहीं चाहिए यह सब मुझे... शांति चाहिए... गंगा, बस गंगा नहीं चाहिए... सब जल अच्छा है...'

ठाकुर साहब की आँखों में जल उमड़ आया। पत्र पर एक बूँद टपककर गिरने को हुई, इससे पहले उन्होंने एक उँगली से उसे झटक दिया। धीरे-धीरे वहीं पेड़ के नीचे बैठ गए वे।

उधर आँगन में चहल-पहल बढ़ गई है। पंडित जी कुछ निर्देश दे रहे हैं। घर के बाहर तक अगरबत्ती की सुगंध आ रही है। राजरानी जी को नहला-धुलाकर सुहागिन की तरह सजा दिया गया है। उनकी दोनों लड़कियाँ काम-धाम में जुटी हैं। मोहल्ले की कोई औरत जब उनके बहुत निकट खड़ी हो जाती है, तो वे रो पड़ती हैं। बहू अपनी सास के इर्द-गिर्द है। बीच-बीच में वह कुछ कथात्मक वाक्य कहकर जोर से रो उठती है - 'अरे, वो मेरी सहेली थीं, सास नहीं थीं... अरे, अब मैं किसके साथ समय बिताऊँगी...' जैसे वाक्य किसी स्वतःस्फूर्त ऊर्जा से संचालित होते हैं क्या?

'अरे मम्मी, आप क्यों चली गईं... आप नहीं जा सकतीं...'

बहू इस तरह जोर-जोर से सास के पैरों के पास सिर पटकने लगती। मोहल्ले और रिश्तेदारी की औरतें उसे खींचकर लातीं और कहतीं - 'भाग्यवान थीं रे, सब देख के गईं।'

सारी तैयारियाँ पूरी हो चुकी थीं। फूल-मालाओं से ढककर उन्हें बाहर ले जाया जा रहा था। अचानक ठाकुर साहब दौड़े। वे अस्पष्ट सा कुछ बड़बड़ा रहे थे। उनके हाथ में एक मुड़ा-तुड़ा कागज था। ठाकुर साहब दुख से पगला गए हैं। (- हवाले से दुनिया)। उन पर किसी ने ध्यान नहीं दिया, बल्कि दो लड़के, जो रिश्तेदारी के थे, उन्हें खींचकर देह से दूर ले गए।

बाहरी गेट के सामने मिनी बस आ गई थी। उसी पर लाद कर हरिद्वार ले जाना था। लोग चाहते थे कि मिट्टी बस के भीतर रखी जाए पर बस का ड्राइवर चाहता था कि मिट्टी बस के ऊपर, छत पर रखी जाए। उसे अंदर से भी बस धोनी पड़ेगी।

'लहास को भीतर रखा जाए या छत पर इससे क्या फर्क पड़ता है।' उसने अपने विचार स्पष्ट कर दिया।

'मिट्टी' फिर भी सहने लायक शब्द था पर 'लहास' शब्द ने सुपुत्र की संवेदना को ठेस पहुँचाई। वे सिंह गर्जना कर उठे - 'साले मिनी बस में आग लगाकर फूँक देंगे। मम्मी अंदर जाएँगी।'

'लहास हम ऐसे ही ले जाते हैं। छत पर। किसी भी बसवाले से पूछ लीजिए।'

वाद-विवाद बढ़ने लगा। कुछ लोग ठाकुर साहब के सुपुत्र के पक्ष में तो कुछ लोग ड्राइवर के पक्ष में। खैर, अंततः सुपुत्र के पक्ष में जुड़ी सहानुभूति ने विजय पाई और गाली-गलौज के बाद लोग लाश उठाने दौड़े।

इस बीच ठाकुर साहब के धैर्य का बाँध टूट गया। हालाँकि बुढ़ापे की देह थी उनकी पर भरसक जोर लगाकर वे दोनों रिश्तेदार लड़कों की पकड़ से मुक्त हो गए।

'अरे रुको, क्या कर रहे हो? कंधा रीमा-सीमा भी लगाएँगी, कहा था उन्होंने हमसे।'

चीखते-चीखते वे रिरियाने लगे। मुड़-मुड़कर लोगों को यकीन दिलाने लगे। हिचकियाँ निकल पड़तीं फिर भी कहते - 'उन्होंने कहा था भाई...'

'अच्छा, अच्छा, ठीक है बाबा!' किसी ने उन्हें आगे बढ़ाया।

रीमा-सीमा डर के मारे औरतों के बीच से बाहर नहीं आईं। दोनों को अपनी शादी-शुदा जिंदगी याद आई।

'किस जंजाल में फँसा रहे हैं पापा,' दोनों ने संयुक्त सोचा। होता है आजकल, लड़कियाँ कंधा देती हैं। भइया कहेंगे तो हम भी चले जाएँगे। अपने से कूदकर जंजाल क्यों मोल लें। यहाँ पर बाल-गोपालों को कौन देखेगा?

'पापा! पगला गए हैं क्या! सँभालिए जीजा जी इन्हें। ताऊ जी!' सुपुत्र ने सबसे अपील की। ठाकुर साहब अबकी स्पष्ट चीखे - 'उतारो उनके गहने-फहने... उतारो...' फिर वे पास खड़े आदमी की तरफ हाथ उठाकर बोले - 'कहा था उन्होंने।'

वे सज्जन हाथ से उनकी पीठ पर सांत्वना ठोकते हुए दुख से विगलित दिखने लगे। ठाकुर साहब लाश की तरफ लपके लेकिन किसी भी दुर्घटना से पूर्व रिश्तेदारों ने उन्हें सँभाला। आखिर रिश्तेदार किस दिन के लिए हैं?

'क्या करें, हमें क्या कम तकलीफ है! ऊपर से पापा...' सुपुत्र ने कहा।

कुछ लोग आगे बढ़े और देह को उठाकर मिनी बस के अंदर एडजस्ट कर दिया गया। ठाकुर साहब को जैसे-तैसे ठेल-ठालकर बस के अंदर किया गया। अधिकांश लोग (केवल पुरुष) बस में चढ़ गए। औरतें छूट गईं वहीं। उनकी क्या जरूरत थी! बस चल पड़ी।

इस सारी धकमपेल के बीच एक मुड़ा-तुड़ा कागज आकर मेरे पैरों के पास गिर गया।

रीमा-सीमा, बहू, मैं और टैगोर एक साथ उसे उठाने झुके।